देवेश ! तूने यह रूप दिखाकर। मुझ राह भूल शिशुका बुलाकर।
माताने मानो स्नेहसे गोद लेकर। कराया स्तन-पान ॥ ६८ ॥

अजी ! महा सागरमें विश्व-रूपके। जूझ रहा था हमलोंसे तरंगोंके।
अब पा लिया किनारा निज-मूर्ति के। दर्शनानुग्रहसे देव ॥ ६९ ॥

सुन तू यह द्वारकापुराध्यक्ष। विश्व रूपसे मानो सूखा था वृक्ष।
इस दर्शनसे तूने की है रक्षा। प्रेम-मेघ-वर्षासे ॥ ६७० ॥

तृषार्थिको जैसे मिला अपार। लहराता अमृत-सिंधु तीर।
जीनेका संदेह हुवा है दूर। इस दर्शनसे ॥ ७१ ॥

मेरे हृदयांगणमें आज। खिली आनंद-लता सहज।
सुख-दर्शनका हुवा साज। मुझको तेरे ॥ ७२ ॥

भगवान उवाच
सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

पार्थके ऐसे बोलको सुन। ऐसे क्यों कहता जनार्दन।
तू आ प्रेमका दृढ स्थान मान। विश्व-रूप वह ॥ ७३ ॥

सदैव यहां मूर्ति-दर्शन। करना केवल लेके तन।
भूला तू मेरा यह कथन। सुभद्रापति ॥ ७४ ॥

केवल अनन्य भक्तिसे ही यह मिलता है—

अरे ! ऐसा कैसा तू अंधा अर्जुन। हाथ आया स्वर्गका मेरु महान।
कहता है वह ओछा तेरा मन। यह है भ्रम-भाव ॥ ७५ ॥

रूप है जो मेरा विश्वात्मक। दिखाया तुझे प्रेम-पूर्वक।
शंभूने किये तप अनेक। किंतु न पा सका वह ॥ ७६ ॥

तथा संकटमें अष्टांग-योगके। पडते हैं योगी आशासे इसके।
किंतु नहीं पाते भाग्य दर्शनके। इसके कभी वे ॥ ७७ ॥

श्री भगवानने कहा

देखा तूने वह मेरा अति दुर्लभ दर्शन।
चाहते देव भी नित्य वह स्वरूप दर्शन ॥ ५२ ॥

विश्व-रूप कभी किसी काल । देखेंगे अणुमात्र केवल ।
इस आशासे देव सकल । करते हैं चिंतन ॥ ७८ ॥

अंजली जैसे आशाकी । माथे पर ले सदाकी ।
निहारते आकाशकी । राह चातक ॥ ७९ ॥

ऐसे उत्कंठासे भरकर । देखते हैं सदा सुर नर ।
निहारते हैं आठो प्रहर । उसके दर्शनार्थ ॥ ६८० ॥

फिर भी विश्व-रूप सरीखा । स्वप्न भी किसीने नहीं देखा ।
प्रत्यक्ष मिला जो वह सुख । तुझको यहां ॥ ८१ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दाने न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

वहां पहुंचनेका साधन । कोई नहीं जान तू अर्जुन ।
वेद सहित षड्दर्शन । व्यर्थ है वहां ॥ ८२ ॥

करने विश्व-रूप दर्शन । करनेमें सब तपको जान ।
अशक्य पानेमें वह स्थान । धनंजय ॥ ८३ ॥

तथा जैसे देखा तूने सविस्तर । वैसे ज्ञान यज्ञसे भी धनुर्धर ।
निहारना जान तू अति दुस्तर । किसीको भी ॥ ८४ ॥

इसका है एक ही प्रकार । सुन तू यह चित्त देकर ।
चित्त करता जब स्वीकार । भक्तिको नित्य ॥ ८५ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

वह भी भक्ति है कैसी । वर्षा न जानती जैसी ।
दूसरा आसरा वैसी । धरती बिन ॥ ८६ ॥

तप यज्ञ क्रिया दान तथा अभ्यास वेदका ।
तो भी दर्शन है मेरा अशक्य जो तुझे मिला ॥ ५३ ॥

अनन्य भक्तिसे शक्य मेरा है ज्ञान दर्शन ।
तत्वतः जानना पाना प्रवेश मुझमें फिर ॥ ५४ ॥

या सकल जल संपत्ति। लेकर सागरमें जाती।
जैसे गंगा अनन्य-गति। लय हो मिलती है ॥ ८७ ॥

वैसे सर्व भाव सहित। होकर अति स्नेह-सिक्त।
रहना मुझमें हो रत। मेरे ही रूपमें ॥ ८८ ॥

तथा मैं रहता ऐसा। क्षीर-सागरमें है जैसा।
तटपे मध्यमें एकसा। रहता है दूध ॥ ८९ ॥

मुझसे चींटी पर्यंत। चराचरमें समस्त।
भजनमें नहीं भ्रांत। होता कभी ॥ ९० ।

उसी क्षणसे है होती। विश्व-रूपकी प्रतीति।
नयन सम्मुख आति। मूर्ति विश्व-रूपकी ॥ ९१ ॥

इंधनसे जैसे अग्नि प्रदीप्त। होनेसे होता इंधन समाप्त।
तथा इंधन ही अग्नि बन व्याप्त। होता है वैसे ॥ ९२ ॥

सूर्यके अभावसे जैसे अंबर। बन जाता है स्वयं ही अंधकार।
सूर्योदयसे होता है तेजाकार। पूर्णरूपसे वह ॥ ९३ ॥

वैसे है मेरा साक्षात्कार। दूर करता अहंकार।
तथा मिटता द्वैताकार। सहज भावसे ॥ ९४ ॥

फिर मैं वह यह संपूर्ण। बनता है जो एक रूपेण।
तथा एक भाव एक गुण। होता है समरस ॥ ९५ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

मेरे लिए ही जो सतत। करता कर्म समर्पित।
मेरे बिन उसे जगत। लगता सूना ॥ ९६ ॥

दृष्यादृष्य उसे सकल। जो कुछ है मैं ही केवल।
उसका जीनेका जो फल। मेरा ही नाम ॥ ९७ ॥

मग्न जो कर्ममें मेरे भक्तिसे है भरा हुवा।
असंग सर्व-निर्वैर पाता हो मुझ मत्पर ॥ ५५ ॥

प्राणि-मात्रोंकी बातको भूल। सर्वत्र देखता मुझे ही केवल।
इसीलिये होता निर्वैर सकल। विश्वको भजता ॥ ९८ ॥

अजी! होता है जो ऐसा भक्त। होनेपे उसका देह-पात।
मैं ही हो जाता है वह पार्थ। पूर्ण रूपसे ॥ ९९ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका—

ऐसा वह विश्वोदर तोंदल। वैसे ही करुणा-रस रसाल।
श्रीकृष्ण बोला ऐसे मधुबोल। कहता संजय ॥ ७०० ॥

सुनकर यह पांडुकुमार। आनंद-संपदामें भरकर।
श्रीहरि पद-कमल-भ्रमर। मान अपनेको ॥ १ ॥

उसने देखली वे दोनो मूर्ति। अपने चितमें भरी आकृति।
तब विश्व-रूपसे कृष्णाकृति। लगी सुंदर ॥ २ ॥

किंतु उसका बना जो ज्ञान। अमान्य करता जनार्दन।
व्यापकसे न होता महान। कभी रूप एक ॥ ३ ॥

करनेमें समर्थन। इसका श्री भगवान।
कहता है दो वचन। अर्जुनसे ॥ ४ ॥

उन्हे सुनकर अर्जुन। चितमें करता चिंतन।
इसमें बड़ा है कौन। पूछें इनसे ॥ ५ ॥

ऐसा सोचकर चितमें पार्थ। करेगा प्रश्न जो अब उचित।
सुनेंगे अब हम जो खचित। अगले निरूपणमें ॥ ६ ॥

प्रांजल ओवी प्रबंध। कहा मैंने स-विनोद।
यह निवृत्ति प्रसाद। कहे ज्ञानदेव ॥ ७ ॥

भरके सद्भावनाकी अंजली। मैंने ओवी सुमन भरी खुली।
अर्पण की है चरण पुगलीं। विश्व-रूपके ॥ ८ ॥

- गीता श्लोक ५५

ज्ञानेश्वरी ओवी ७०८.

ॐ

१२

भक्तियोग

मातृ-रूपसे गुरुका वन्दन—

जय-जय हे शुद्धे । उदारतम प्रसिद्धे ।
अनवरत आनन्दे । वर्षा कर ॥ १ ॥

विषयव्यालका जकडनव । विषतम भ्रमका अंजन ।
गुरु-कृपाके स्निग्ध-नयन । निर्विष करेंगे ॥ २ ॥

झुरसा हो कैसे ही तापमें । या जला हो कैसे हि शोकमें ।
तव कृपा-रस-कल्लोलमें । होंगे शीतल ॥ ३ ॥

अजी ! योग-सुखका उमंग । तव स्नेह-रसके तरंग ।
सोऽहं सुख सिद्धिसे अंतरंग । भर देते हैं ॥ ४ ॥

आधार शक्तिकी गोदमें । बढाती प्रेम-सुख-मोदमें ।
हृदयाकाश पालनेमें । झुलाती सदा ॥ ५ ॥

उतारती प्रागज्योतिकी आरति । मन पवन खिलौनोंसे खिलाती ।
आत्म-सुख अलंकारसे सजाती । बालकको नित ॥ ६ ॥

सत्रहवींका स्तन्य देती । अनाहतके गीत गाती ।
समाधि-बोधमें सुलाती । समझाके ॥ ७ ॥

तभी तू साधकोंकी मां कहलाती । चरणमें साहित्य-लता खिलती ।
तव चरण तलकी छाया ही गति । सर्वदा मुझे ॥ ८ ॥

अजी ! सद्गुरुकी कृपा-दृष्टि । तव कारुण्य जिसकी अधिष्ठी ।
सकल विद्याओंकी जो सृष्टि । धात्री ही है ॥ ९ ॥

तभी हे अंबे श्रीमंते । निज-जन कल्पलते ।
आज्ञा दे तू मुझे माते । ग्रन्थ-निरूपणकी ॥ १० ॥

नव-रसके भरे सागर । जो हैं महा रत्नोंके आगर ।
भावार्थके ऊँचे गिरिवर । उठ आयेंगे ॥ ११ ॥

साहित्य सुवर्णकी खान । हो देश-भाषाका अंगन ।
विवेक-वल्लीका उद्यान । लगे सर्वत्र ॥ १२ ॥

संवाद-फल निधान । प्रमेयोंका उपवन ।
लगे सर्वत्र गहन । निरंतर ॥ १३ ॥

पटे पांखंडकी खायी महान । मिटे वाग्वाद सब अर्थ-शून्य ।
भगे कुतर्कके दुष्ट-श्वान । सदाके लिए ॥ १४ ॥

मेरा चित्त सदैव श्री कृष्ण गुणवर्णनमें समर्थ हो—

श्रीकृष्ण-गुणगानमें चित्त । रहे मेरा सर्वदा समर्थ ।
श्रोता श्रवणासनपे रत । रहे निरंतर ॥ १५ ॥

त्रिभुवनके सभी नगर । बने ब्रह्मविद्याका आगर ।
लेन-देनका रहे आधार । सुविचार मात्र ॥ १६ ॥

मां अपने स्नेहांचलमें । संभालो सर्वदा गोदमें ।
वहां यह सब लीलामें । उपजाऊँ मैं ॥ १७ ॥

इस विनयसे रीझ उठी । श्रीगुरुकी अनुग्रह-दृष्टि ।
कहा कर अब गीता गोष्टि । न बोल अन्य ॥ १८ ॥

वहांका यह महा-प्रसाद । पाकर हुआ महदानन्द ।
अब कहूँगा गीता-प्रबंध । सुनियेजी ॥ १९ ॥

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

विलीन तुझमें होके भजता भक्त जो तुझे ।
कोई अक्षर अव्यक्त योगीमें श्रेष्ठ कौन हैं ॥ १ ॥

ईश्वर प्राप्तिके दो मार्ग—

तब सकल वीराधिराज। सोम-वंशका विजयध्वज।
बोलने लगा वह आत्मज। पांडु नृपतिका ॥ २० ॥

कृष्ण! मैंने किया श्रवण। तथा विश्वरूप दर्शन।
भय-ग्रस्त हुआ जी मन। देख अद्भुत ॥ २१ ॥

कृष्ण-मूर्तिका हैं रूप सुन्दर। जिसका किया चितने आधार।
श्रीकृष्ण तूने ना कहकर। दूर किया मुझसे ॥ २२ ॥

अजी! व्यक्त तथा अव्यक्त। एकमात्र तू है निर्भ्रांत।
भक्तिसे जो मिलता व्यक्त। अव्यक्त योगसे ॥ २३ ॥

अजी! ये हैं दो ही पथ। दर्शनार्थिको उचित।
द्वारमें व्यक्त अव्यक्त। पहुंचाते जो ॥ २४ ॥

कस होता है जो तोला स्वर्णका। वही कस होता एक रत्तिका।
इसीलिए जो है एक व्यापक। दूसरा है सीमित ॥ २५ ॥

जो महानता अमृत व सिंधुकी। वही शक्ति है अमृत-बिंदुकी।
करनेसे आचमन दोनोंकी। मिलती एकसे जो ॥ २६ ॥

न दोनोंसे तत्वतः तुझे कौन जानता है?—

बात है यह मेरा चित्त। प्रतीत करता निश्चित।
जानना चाहूं तेरा मत। योगेश्वर ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण तूने क्षण एक। स्वीकार किया जो व्यापक।
यथार्थमें था या कौतुक। जिज्ञासासे ॥ २८ ॥

तेरे लिए ही सब कर्म। तु ही है जिनका परम।
भक्तका यह मनो-धर्म। सर्व-समर्पण ॥ २९ ॥

तथा अन्य सब भांति। तुझको ही मान गति।
दृढ़ कर यह मति। भजते तुझे ॥ ३० ॥

तथा जो प्रणवके उस पार। वैखरीके लिए भी जो है पर।
उपमा रहित औ' निराकार। वस्तु है जो ॥ ३१ ॥

वह है अक्षर औ' अव्यक्त। तथा निर्देश देश रहित।
तत्वऽमसि भावसे पूजित। ज्ञानियोंसे॥ ३२॥

योगी या भक्तमें तत्वता। तुमको कौन है जानता।
कह तू मुझको अनंता। इस समय॥ ३३॥

सुन अर्जुनकी यह बात। जगद्बन्धु हो प्रसन्न चित्त।
कहे करना प्रश्न उचित। जानता तू॥ ३४॥

भगवान उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

दिन रात मेरा चिंतन करनेवाला भक्त मुझे जानता है —

जैसे अस्ताचवलके समीप। गये रवि-बिंबके आतप।
रविके पीछे अपने आप। चलता वैसे॥ ३५॥

वर्षा-ऋतुकी जो सरिता। चढ़ती जाती पांडुसुता।
वैसी नित्य नूतन आस्था। दीखे भजनमें॥ ३६॥

मिलन स्थलमें जैसे सागर। गंगा-प्रवाह होता अनिवार।
वैसा आता है अनिवार पूर। प्रेम-भावका॥ ३७॥

वैसे जो सर्वेंद्रिय सहित। नित रहता मुझमें रत।
स्मरता रहता दिन-रात। न जानकर भी॥ ३८॥

इस प्रकार है जो भक्त। कर सर्वस्व समर्पित।
उसको ही मैं योगयुक्त। मानता श्रेष्ठ॥ ३९॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥

मुझमें मनको रोप भजता नित्य जो मुझे।
जुडा परम श्रद्धासे उसे मैं श्रेष्ठ मानता॥ २॥

जो है अचिंत्य अव्यक्त सर्व-व्यापी अवर्णित।
नित्य निश्चल निर्लिप्त जो अक्षर उपासता॥ ३॥

तथा अन्य है जो पांडव। आरूढ़ होके सोऽहं भाव।
उलझते निरवयव। अक्षरसे ॥ ४० ॥

जहाँ मनकी रसाई नहीं होती। बुद्धिकी दृष्टि भी नहीं पहुँचती।
वहाँ होगी इन्द्रियोंकी कौन गति। कह तू अर्जुन ॥ ४१ ॥

ध्यानमें भी वह आना कठिन। होता नहीं उसका एक स्थान।
न होता उसका आकार गुण। इससे ही ॥ ४२ ॥

जिसका सर्वत्र सर्व काल। रहना सदैव सर्व-स्थल।
देख होती कुण्ठित सकल। चिंतन-शक्ति ॥ ४३ ॥

जिसका आदि अन्त है नहीं। तथा है नहींका पता नहीं।
जिसका कोई उपाय नहीं। जाननेका ॥ ४४ ॥

जो स्थिर ना चर। जर ना अजर।
पाया वह पर। जिन्होंने स्वयं ॥ ४५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

उनके वैराग्य महाज्वालसे। विषय-वाहिनीको जलानेसे।
अधजले इंद्रियोंको धैर्यसे। समेट लिया है ॥ ४६ ॥

फिर संयमके पाशमें। ऐंठके अंतर तममें।
इंद्रियाँ हृदय द्वारमें। बाँध रखीं ॥ ४७ ॥

लगाया अपानका जो द्वार। देकर आसन मुद्राधार।
मूलबन्धका सुदृढ़ घर। बना लिया ॥ ४८ ॥

तोड़ा लगाव चाहका। ढा दिया ढाँचा भयका।
मिटाया निद्रा-तमका। अंधियारा जो ॥ ४९ ॥

रोकता इन्द्रियां सारी सर्वत्र सम-बुद्धिसे।
पाते हैं मुझको ही वे विश्वके हितमें रत ॥ ४ ॥

महा ज्वालाओंसे वज्राग्निकी । होली कर अपान धातुकी ।
व्याधि-वर्ग मुंढोंसे पूजा की । शतघ्निकी ॥ ५० ॥

फिर मशाल कूण्डलिनीकी । आधारचक्र पर खड़ी की ।
राह बतायी ब्रह्म-रंद्रकी । उस प्रभाने ॥ ५१ ॥

नव-द्वारके किवाड़ पर । संयम सांखली लगाकर ।
खोला सुषुम्ना गवाक्ष-द्वार । धनंजय ॥ ५२ ॥

तब प्राण-शक्ति चामुंडा । प्रहारसे संकल्प भेड ।
मन महिषासुर मुंड । लेती है बलि ॥ ५३ ॥

इडा पिंगलाका ऐक्य कर । अनाहद नाद जगाकर ।
जीत लिया इन्द्रामृत नीर । उसी क्षण ॥ ५४ ॥

फिर मध्यमा मध्य विवर । जिसका द्वार अति सुन्दर ।
खोलके ब्रह्मरंद्र शिखर । पालिया है ॥ ५५ ॥

सिवा मकारांत सोपान । छोड करके जो गहन ।
काँखमें ले शून्य गगन । पाया ब्रह्मैक्य ॥ ५६ ॥

ऐसे जो सर्वत्र समबुद्धि । निगल जानेमें सोऽहं सिद्धि ।
प्राप्त करते हैं निरवधि । योग दुर्ग ॥ ५७ ॥

अपनेको ही बेचकर । लेते हैं शून्य निराकार ।
वे भी पाते हैं धनुर्धर । मुझको ही ॥ ५८ ॥

अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासक भले–क्यों कि—

पाते हैं योग बलसे । विशेष हैं कछु ऐसे ।
नहीं कष्ट ही अधिकसे । पाते हैं वे ॥ ५९ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

विशेष क्लेश पाते हैं गूंथ अव्यक्तमें चित ।
होना अज्ञातमें बोध कठिन देह-धारिको ॥ ५ ॥

सकल भूतोंके हितार्थ । निरालंब औ' अव्यक्त ।
उसमें हुआ जो आसक्त । विना भक्तिके ॥ ६० ॥

उसको इन्द्रादिक पद । करते हैं पथमें वध ।
तथा ऋध्दि-सिध्दियोंका द्वंद्व । बनते हैं रोडे ॥ ६१ ॥

काम-क्रोधके उत्पात । करते बडे आघात ।
तथा शून्यसे भिडन्त । नित है तनको ॥ ६२ ॥

प्याससे प्यास ही है पीना । भूखसे भूख ही है खाना ।
दिन रात हवा गिनना । हवासे ही ॥ ६३ ॥

सतत-जागृति जहां सोना । इन्द्रिय इन्द्रियको ही भोगना ।
वृक्षोंसे मैत्री करके बोलना । स्वभावसे ॥ ६४ ॥

शीतको बिछाना । तापको ओढना ।
घरमें हैं सोना । वर्षाके ॥ ६५ ॥

अथवा यह है धनंजया । अग्नि-प्रवेश है नित-नया ।
भ्रातर बिना ही पूर्णतया । करना ही योग ॥ ६६ ॥

न है यह स्वामीका काज । जिसमें मिलता स-व्याज ।
किंतु मात्र मृत्युसे झूज । नित्य-नयी ॥ ६७ ॥

ऐसा मृत्युसे भी जो भीषण । तप विष घूंटसे भी तीक्ष्ण ।
पहाड लीलनेमें आनन । न फटेगा क्या? ॥ ६८ ॥

योगीका जो पथ । चलते हैं पार्थ ।
दुःख ही हैं साथ । उनके सदा ॥ ६९ ॥

अजी! लोहेके ही चने । पडते हैं नित खाने ।
पेट भरने या मरने । क्या कहें इसे? ॥ ७० ॥

बाहुसे तरना सागर । पैरोंसे गगन विहार ।
ऐसा ही है पांडुकुमार । बात जो यह ॥ ७१ ॥

बीच रण रंगमें जाकर । तनपे घाव न झेलकर ।
सूर्य मण्डलको भेदकर । आना कैसे? ॥ ७२ ॥

पंगुकी बराबरी वायुसे। शरीरीकी निर्गुणमें वैसे।
प्रवेश है समान रूपसे। जान तू पांडव ॥ ७३ ॥

फिर भी करके साहस। लिपट लेते हैं आकाश।
जिससे पायेंगे वे क्लेश। निश्चित जान ॥ ७४ ॥

किंतु इस और पार्थ। न जाने क्या है व्यथा।
तभी है ये भक्ति पंथ। आते हैं जन ॥ ७५ ॥

भक्ति पंथ सरल है–क्यों कि—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥

कर्मेन्द्रिय यहां स-सुख। करती हैं कर्म विशेष।
प्राप्त हैं जो वर्ण विशेष। स्वभाव-जन्य ॥ ७६ ॥

विधिको है पालना। निषिद्धको त्यागना।
अर्पण कर जलाना। कर्म-फलको ॥ ७७ ॥

इस भांति कर समर्पण। कर्मका करते हैं क्षालन।
ऐसे करते कर्म अर्जुन। जो हैं भक्त ॥ ७८ ॥

दूसरे भी हैं जो जो सर्व। काया वाचा मनके भाव।
मेरे बिना नहीं है ठाव। कोई भी अन्य ॥ ७९ ॥

ऐसे होके जो मत्पर। उपासते निरंतर।
जिससे हैं मेरा घर। ध्यानसे वे ॥ ८० ॥

उनकी रुचि चाह चाव। मेरे लिए ही है ये सर्व।
योग-क्षेम मोक्षादि भाव। त्यजे कुलादि भी ॥ ८१ ॥

ऐसा यह अनन्य-योग। न्योच्छावर मन प्राण अंग।
उनका क्या है एकेक भाग। करता हूं मैं सब ॥ ८२ ॥

किंतु जो सब ही कर्म करके मुझ अर्पण।
अनन्य भक्तिसे मेरा करते नित्य चिंतन ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

निष्काम भक्तसे मैं अत्यंत प्रेम करता हूँ—

अथवा जो पांडुकुमार । आता जो माताके उदर ।
उससे माता कैसे प्यार । करती है नित ॥ ८३ ॥

वैसा मैं करता उनसे । जहां वे जैसे रहते वैसे ।
कलिकालके परिहारसे । करता स्वीकार ॥ ८४ ॥

वैसा तो कभी मेरा भक्त । संसार चिंता नहीं करता ।
अजी ! क्या श्रीमंतकी कांता । मांगती कोरान्न ॥ ८५ ॥

वैसा वे सर्वदा सर्वत्र । माननाजी मेरा कलत्र ।
लजाऊँ ना मैं तिलमात्र । उनकी सेवामें ॥ ८६ ॥

जन्म-मृत्युके भंवरमें । देख डूबे हुए विश्वमें ।
उठे ये विचार मनमें । ऐसे सब ॥ ८७ ॥

भव सागरके खम्भारमें । भय न हो किसके हृियमें ।
यहां यदि मेरे ही जनमें । होगी भीति ॥ ८८ ॥

इसीलिये मैं अर्जुन । रूप लेकर सगुण ।
जहां बसते सज्जन । आया वहां ॥ ८९ ॥

मेरे नाम हैं जो अनंत । नांव है यहां मूर्तिमंत ।
इसको लेकर मैं पार्थ । बना मांझी ॥ ९० ॥

थे जो परिग्रह रहित । उनको लगाया ध्यानार्थ ।
जो थे परिग्रह सहित । उनको नाममें ॥ ९१ ॥

प्रेमकी पेटी बांधकर । लाया किसीको तैराकर ।
पहुंचाया है तीर पर । सायुज्यके ॥ ९२ ॥

रोकता मुझमें चित्त उनको शीघ्र मैं स्वयम् ।
बिना विलम्ब उद्धार करता भव-सिंधुसे ॥ ७ ॥

जिसने पकडे मत्पाद। भले ही होवे चतुष्पाद।
उनको मिला महापद। मेरे सानिध्यका ॥ ९३ ॥

इसीलिए जी भक्त। नहीं होते चिंतित।
उनका समुद्धर्त। मैं हूं सदा ॥ ९४ ॥

तथा जबसे की भक्ति। दी मुझको चित्त-वृत्ति।
उनके फंदकी शक्ति। खींचती मुझे ॥ ९५ ॥

इस कारणसे अर्जुन। कर भक्तिका आचरण।
यह मंत्र रखो स्मरण। मनमें सदा ॥ ९६ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवासिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

मन बुद्धि आदिका मुझमें लीन होनेसे मद्रूप हो जाता है—

अजी! मानस यह एक। मेरे स्वरूपमें वृत्तिक।
करके रख तू निष्कंक। निश्चित बुद्धिसे ॥ ९७ ॥

इन दोनों साधनसे। मुझमें रहे प्रेमसे।
मिलन होगा मुझसे। तेरा निश्चित ॥ ९८ ॥

मन बुद्धिने घर। किया मेरे भीतर।
रहा क्या भेद और। मेरे तेरेका ॥ ९९ ॥

जैसे ज्योति बुझने पर। मिट जाती कांति सत्वर।
या अस्त होते ही भास्कर। जाता प्रकाश ॥ १०० ॥

तजता जब तनको प्राण। निकल जाते सभी कण।
जहां मन-बुद्धिका गमन। वहां अहंकार ॥ १ ॥

इसीलिये मेरे स्वरूपमें। मन बुध्दिके रुत जानेमें।
होगा तू विश्व-व्यापकतामें। मैं ही मान ॥ २ ॥

मनको मुझमें रोक बुद्धि भी मुझमें रख।
तभी तू फिर निःशंक पाएगा मम रूप ही ॥ ८ ॥

इस वचनमें कहीं । अन्यथा कछु भी नहीं ।
मेरी प्रतिज्ञा है यही । सौगंध पूर्वक ॥ ३ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

मद्रूपका क्षणिक अनुभव–अभ्यास-योग—

अथवा यह चित्त । मन बुध्दि सहित ।
मुझको अचुंबित । न दे सके तो ॥ ४ ॥

तब तो ऐसा कर । दिनमें क्षण भर ।
सबको भूलकर । रत हो मुझमें ॥ ५ ॥

जिससे तू निमिष एक । अनुभवेगा मेरा सुख ।
उससे होगा अरोचक । विषय-मात्र ॥ ६ ॥

जैसा शरत्काल आता । सूखते जाती सरिता ।
वैसी छूटेगी ममता । प्रपंचसे ॥ ७ ॥

फिर पूर्णमासीसे जैसे । शशि-बिंब लगता वैसे ।
अमावसमें पूर्णरूपसे । मिट जाता है ॥ ८ ॥

ऐसे वासनासे निकलकर । मुझमें चित्त चुभते जाकर ।
धीरे धीरे वह अर्जुन स्थिर । होगा मद्रूप ॥ ९ ॥

अजी ! अभ्यास योगका अर्थ । एक ही जो है सर्व समर्थ ।
जिससे न होगा कुछ प्राप्त । ऐसा नहीं ॥ ११० ॥

सुन अभ्यासका बल । देता गति अन्तराल ।
ध्याघ्र सर्पको प्रांजल । करते इससे ॥ ११ ॥

विषका ही आहार बनता । सागरपे पगसे चलता ।
कोई वाग्ब्रह्मको ही जीतता । अभ्यास बलसे १२ ॥

करना चित्तको शांत असाध्य मुझमें तब ।
अभ्यास योगसे चाह तू मेरी प्राप्तिको कर ॥ ९ ॥

जैसे वृक्ष अथवा वेल । गिरा देते हैं पक्व फल ।
वैसे तज दें फल सकल । कर्म सिद्धिके ।। ज्ञा. १२–१२९

अभ्यासको कुछ नहीं । सर्वथा दुष्कर कहीं ।
इसलिए मुझमें ही । उससे रत हो ॥ १३ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

निराग्रह वृत्तिसे जीवन-यापन—

अथवा अभ्यासमें ऐसा । न आता साहस सहसा ।
तब रह अब है जैसा । अर्जुन तू ॥ १४ ॥

इन्द्रियोंका निग्रह न कर ! विषय-भोग कम न कर ।
याभिमानका त्याग न कर । स्वजातिके ॥ १५ ॥

कर कुल धर्माचरण । विधि निषेधका पालन ।
तब भी सुखसे जीवन । चलता रहता है ॥ १६ ॥

किंतु काया वाचा मन । करता जो आचरण ।
उसका जो अहंपन । न मान तू ॥ १७ ॥

जिसको है विश्व चलाना । पूर्ण यह उसने जाना ।
करना या नहीं करना । उसका काम ॥ १८ ॥

उसमें कुछ जो न्यून पूर्ण । उससे अछूता रख मन ।
स्वजातिके लिए ही जीवन । देकर तू ॥ १९ ॥

जैसा ही माली चलाता ले जाता । वैसा ही पानी है सहज जाता ।
यदि तू वैसा ही करता जाता । निराभिमानसे ॥ १२० ॥

वैसे ही देख तू पार्थ । कैसा है अपना पथ ।
देखता क्या यह रथ । अल्पसा भी ॥ २१ ॥

तभी प्रवृत्ति या निवृत्ति । इससे दूर रख मति ।
तथा अखंड चित्त-वृत्ति । मेरे स्मरणमें ॥ २२ ॥

अभ्याससे न हो साध्य तब मत्कर्म आचर ।
मिलेगी तुझको सिद्धि सत्कर्म करने पर ॥ १० ॥

कर्म जो होता है तुझे प्राप्त। न मान तू अल्प या बहुत।
चुपचाप कर दे अर्पित। मुझको सदा ॥ २३ ॥

ऐसी ही भद्भावना। तन त्यागमें अर्जुना।
तू सायुज्य सदन। पायेगा मेरा ॥ २४ ॥

कर्म-रत रहकर कर्म फल समर्पण

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

न तो यह भी तुझे। न दे सके कर्म मुझे।
तब तू सतत मुझे। भजते जा ॥ २५ ॥

बुध्दिके पेट पीठमें। कर्मके आदि अंतमें।
मुझको जोड़ देनेमें। यदि है दुस्तर ॥ २६ ॥

तो यह भी रहने दो। मदर्पणकी जाने दो।
किंतु निग्रही होने दो। बुध्दि तेरी ॥ २७ ॥

और जैसे जिस काल। कर्म होते हैं सकल।
उसके वे सब फल। तजते जा ॥ २८ ॥

जैसे वक्ष अथवा वेल। गिरा देते हैं पक्व फल।
वैसे त्याज दे फल सकल। कर्म सिद्धिके ॥ २९ ॥

मनमें मेरा करना स्मरण। अथवा मुझे करना अर्पण।
यदि है तुझे यह अग्रहण। जाने दे शून्यमें ॥ १३० ॥

जैसे पत्थर पे पड़ी वर्षा व्यर्थ। तथा आगमें हुई बुवाई व्यर्थ।
अथवा देखा हुआ स्वप्न है व्यर्थ। वैसा कर्म-फल ॥ ३१ ॥

अजी! जैसे आत्मजामें। जीव निष्काम मनमें।
वैसे सकल कर्ममें। अकाम होना ॥ ३२ ॥

ऐसा कर्म न होता तो मुझमें योग साधके।
यत्नसे छोड तू सारे कर्मके फल अर्जुन ॥ ११ ॥

जैसे उठती अग्नि-ज्वाल। आकाशमें व्यर्थ सकल।
वैसे लय हो कर्म-फल। शून्यमें ही ॥ ३३ ॥

अर्जुन यह जो फल त्याग। दीखता है अति असलग।
योगमें है यह महायोग। सर्वोत्कृष्ट ॥ ३४ ॥

फल-त्याग यह अविकार। जिससे न हो कर्म विस्तार।
अंकुरता वेणु एक बार। उसी भांति ॥ ३५ ॥

इस शरीरसे ही शरीर। पाना है रुकता बार बार।
पुनरागमनपे पत्थर। पड़ता मानो ॥ ३६ ॥

अभ्यासकी महता—

फिर अभ्यासका सोपान। सौंपता है ज्ञानका स्थान।
ज्ञानसे ध्यानका मिलन। सहज होगा ॥ ३७ ॥

ध्यानका तब आलिंगन। करते हैं भाव संपूर्ण।
रहते तब दूर जान। कर्म-जात ॥ ३८ ॥

जहां कर्म ही दूर है। फल-त्याग सरल है।
त्यागका जो सहज है। शांति-सुख ॥ ३९ ॥

शांतिके लिये है तब। अभ्यास करना अब।
क्रमगत ही है सब। सुभद्रापति ॥ १४० ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥

अभ्याससे भी गहन। अर्जुन फिर है ज्ञान।
ज्ञानसे भी है जो ध्यान। महत्वका ॥ ४१ ॥

फिर है कर्म-फल-त्याग। जो है ध्यानसे भी सुभग।
उससे श्रेष्ठ है जो भोग। शांति सुखका ॥ ४२ ॥

मिलता यत्नसे ज्ञान होती तन्मयता फिर।
तब पूर्ण फल-त्याग देता है शांति सत्वर ॥ १२ ॥

यह है ऐसा पथ। इस पथसे पार्थ।
शांतिका ही मध्यस्थ। प्राप्त करता है॥ ४३॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुणा एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

भक्तकी स्थिति-गुण-विकास—

अजी प्राणि मात्रमें कहीं। द्वेषका जो नाम भी नहीं।
आप-पर-भाव भी नहीं। चैतन्यका-सा॥ ४४॥

उत्तमका करना स्वीकार। अधमका करें अस्वीकार।
नहीं जानती ऐसा प्रकार। जैसे धरणी॥ ४५॥

राजाके तनको चलाना। रंक-शरीरको हनना।
न सोचता कृपालु प्राण। वैसा ही वह॥ ४६॥

करें गायका तृषा-निवारण। विष बन व्याघ्रको दे मरण।
न जानता ऐसा एक भी क्षण। नदी-नीर॥ ४७॥

वैसे हैं सभी भूत-मात्र। उसके समान जो मित्र।
जैसे धात्रीको है सर्वत्र। सम-भाव॥ ४८॥

मैं तूकी भाषा बोलना। सुख-दुःखको जानना।
"मेरा" ऐसा भी कहना। नहीं है उसे॥ ४९॥

क्षमामें वैसी ही क्षमता। धरित्री समान योग्यता।
संतोष नित है बढ़ता। उसकी गोदमें॥ १५०॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

किसीका न करे द्वेष दया मैत्री बना क्षमा।
मैं मेरा सब भूला जो सहके सुख दुःखको॥ १३॥

सदा संतुष्ट जो योगी संयमी दृढ निश्चयी।
मन-बुद्धि मुझे देता भक्त है मुझको प्रिय॥ १४॥

वर्षा-ऋतुके बिना सागर । पूर्ण रहता आत्म-निर्भर ।
वैसा ही वह निरुपचार । सदा-संतुष्ट ॥ ५१ ॥

देकर अपनी सौगंध । देता है हृदयको बोध ।
इससे निश्चयमें बाध । न आता कभी ॥ ५२ ॥

हृदय-भुवनमें जिसके । एक ही आसन पे बैठके ।
शासन करते विराजके । जीव-परमात्मा ॥ ५३ ॥

ऐसी योग समृध्दि । पाकर निरवधि ।
चढाके मन-बुध्दि । मुझपे ही ॥ ५४ ॥

बाहर भीतर योग । शुद्धतामें भी सुभग ।
फिर भी ममानुराग । जिसे सप्रेम ॥ ५५ ॥

अर्जुन ऐसे जो भक्त । वही योगी तथा मुक्त ।
वह वल्लभा मैं कांत । ऐसे जान ॥ ५६ ॥

उससे मुझे जो प्रेम है । जीवनसे भी अधिक है ।
यह बात भी अपूर्ण है । कहूं कैसे ॥ ५७ ॥

अजी ! भक्तोंकी जो कहानी । मुझपे मोहके मोहिनी ।
अकथनीय है कथनी । कहलाती श्रद्धा ॥ ५८ ॥

इसीलिए जी हम । कह गये उपमा ।
वैसे तो वह प्रेम । रहता मौन ॥ ५९ ॥

रहने दो यह किरीटी । प्रिय जनोंकी यह जो गोष्टि ।
प्रेमसे जो पुलक उठी । अति वेगसे ॥ १६० ॥

उसपर भी हे पार्था । सकल संवाद-कर्ता ।
उसको यहां यथार्थ । उपमा भला ॥ ६१ ॥

इसीलिए पांडुसुता । प्रिय तू औ' तू ही श्रोता ।
फिर प्रियकी ही वार्ता । प्रसंग आया है ॥ ६२ ॥

तभी मैं अब बोलता । बोलका सुख भोगता ।
कहके हरि डुलता । आनंद मगन ॥ ६३ ॥

फिर कहता यह सुन । उस भक्तके ये लक्षण ।
उसको मैं अंतःकरण । आसनार्थ देता हूं ॥ ६४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

भक्त भय-उद्वेग रहित—

जैसे सागरके भीतर । भीत न होता जलचर ।
या जलचरोंसे सागर । उकताता नहीं ॥ ६५ ॥

वैसे ही उन्मत्त जगत । न करता उसे दुखित ।
तथा न ऊबता जगत । उससे कभी ॥ ६६ ॥

अथवा मान तू पांडव । जैसे तनको अवयव ।
नहीं ऊबते वैसे जीव । औ' जीवोंसे वह ॥ ६७ ॥

विश्व ही जैसे देह हो गया । इसलिए प्रिया-प्रिय गया ।
हर्ष शोकादि द्वन्द्व भी गया । द्वैत मिटनेसे ॥ ६८ ॥

ऐसा द्वन्द्वसे जो मुक्त । भय उद्वेग रहित ।
फिर भी अनन्य भक्त । वह मेरा ॥ ६९ ॥

तभी है वह मेरा प्रिय । दिखाऊँ कैसा मेरा हिय ।
वह है मुझमें तन्मय । इससे जीता हूं ॥ १७० ॥

जो है निजानन्दमें तृप्त । मानो ब्रह्मको जन्म प्राप्त ।
पूर्णताका वह है आप्त । वल्लभ जैसा ॥ ७१ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

ऊबता जो न लोगोंसे न ऊबे उससे जन ।
हर्ष-शोक भय-क्रोध न जाने जो मुझे प्रिय ॥ १५ ॥

नहीं व्यथा उदासीन दक्ष निर्मल निस्पृह ।
तजे आरंभ जो सारे भक्त है मुझको प्रिय ॥ १६ ॥

न है उसमें अपेक्षा । वैसी ही नहीं उपेक्षा ।
जीवन बिन आकांक्षा । केवल आत्मोत्कर्ष ॥ ७२ ॥

मोक्ष देनेमें उदार । काशी नामका आदर ।
किंतु उसमें शरीर । त्यजना होगा ॥ ७३ ॥

पाप हरता हिमवंत । भयभीत कर जीवित ।
संतका पावन चरित । वैसा नहीं ॥ ७४ ॥

पावन है गंगोदक । पाप तापका शामक ।
किंतु उसमें है एक । डूबनेका भय ॥ ७५ ॥

गहराई जिसकी अपार । किंतु डूबनेका है डर ।
रोकड़ मोक्षका है घर । जीवनमें ही ॥ ७६ ॥

संतोंके चरण स्पर्शसे । मुक्त है गंगा भी पापसे ।
ऐसे संत-संगके कैसे । कहना शुचित्व ॥ ७७ ॥

अजी ! यह रहने दो अब । बना तीर्थोंका आश्रय सब ।
धोकर मनका मल शुभ– । शुचित्वसे ॥ ७८ ॥

होता तन मनसे निर्मल । सूर्यके समान है उज्वल ।
तत्त्वार्थियोंमें है पायल । ब्रह्म-धनका ॥ ७९ ॥

व्यापक तथा उदास । रहता जैसे आकाश ।
वैसे उसका मानस । सदा-सर्वत्र ॥ १८० ॥

जो है संसार-व्यथासे मुक्त । निरपेक्षालंकार-भूषित ।
मानो व्याध-बाणसे विमुक्त । विहंगमसा ॥ ८१ ॥

सुखमें जो है लीन सतत । न होती कभी टीस प्रतीत ।
न जाने जैसे लज्जाको प्रेत । उसी भांति ॥ ८२ ॥

तथा कार्यारंभका है नहीं । अहंकार तनिक भी कहीं ।
जैसा निरिंधन होके वन्ही । बुझ जाता है ॥ ८३ ॥

ऐसा हुआ जब उपशम । मोक्ष-सत्रमें लिखाया नाम ।
हुआ है वह निष्काम-काम । धनंजय ॥ ८४ ॥

अर्जुन वह यहीं पर । सोऽहं भावसे भरकर ।
पहुंच चुका उस पार । द्वैत-भावके ॥ ८५ ॥

किंतु भक्ति-सुखके कारण । कर अपना दो विभाजन ।
सेवा धर्मका अंगीकरण । करता आप ॥ ८६ ॥

अन्यको है मैं कहता । फिर स्तोत्र नहीं होता ।
भक्तिका मार्ग दिखाता । योगी वह ॥ ८७ ॥

हमें है उसका व्यसन । उसका ही निज-ध्यान ।
या उसमें ही समाधान । मिलता हमको ॥ ८८ ॥

उसके लिये रूप-धारण । इस विश्वमें अवतरण ।
न्योछावर है उसपे प्राण । सर्व-भावसे ॥ ८९ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो आत्म लाभके समान । सुन्दर कछु नहीं आन ।
तभी भोगमें न दें मन । न हो आनंदित ॥ ९० ॥

आप ही है विश्व बन गया । भेद भाव सहज धो गया ।
तब द्वेश भी है मिट गया । उस पुरुषका ॥ ९१ ॥

जो है अपना संतत्व । कल्पांतमें है अस्तित्व ।
तभी भूतका है स्वत्व । कभी न सोचता ॥ ९२ ॥

तथा उसके परे कुछ भी नहीं । अपना जो है अपने पास यहीं ।
तभी उसकी आकांक्षा है ही नहीं । कुछ भी कभी ॥ ९३ ॥

न उल्हास न संताप न चाह सोच भी नहीं ।
भला बुरा सभी छोडा भजता जो मुझे प्रिय ॥ १७ ॥

बीभत्स है या सुंदर । न जाने वह अंतर ।
जैसे जाने ना भास्कर । दिन औ' रात ॥ ९४ ॥

ऐसे बोधसे केवल । रहता है जो निष्कल ।
फिर भी भजनशील । मुझमें वह ॥ ९५ ॥

उसके समान और । नहीं हमें प्रियकर ।
कहता हूं धनुर्धर । सौगंध तेरी ॥ ९६ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥

भक्तकी सम-भावना—

जिसके मनमें पार्था । नहीं वैशम्यकी वार्ता ।
रिपु-मित्रकी समता । रहे सदा ॥ ९७ ॥

अपनोंको प्रकाश देना । परायोंको अंधेरा देना ।
जैसा दीप यह सोचना । जानता नहीं ॥ ९८ ॥

करता जो वृक्ष-छेदन । या करता गाछ-पालन ।
दोनोंको दे छाया समान । जैसा वृक्ष ॥ ९९ ॥

मालीको देता मीठा रस । पेरकको न खट्टा रस ।
सबको है मधुर रस । देता ईख-सा ॥ २०० ॥

शत्रु-मित्रमें तैसा । उसका भाव ऐसा ।
रहता है एकसा । मानापमानमें ॥ १ ॥

तीनों ऋतुओंमें समान । रहता है जैसा गगन ।
वैसा ही एक समान । शीतोष्ण जिसे ॥ २ ॥

दक्षिण उत्तर मारुत । जैसा है मेरु पांडुसुत ।
तैसा सुख दुःख हो प्राप्त । मध्यस्थ है जो ॥ ३ ॥

सम जो शत्रु-मित्रोंमें मानापमानमें सम ।
शीतोष्ण सुख दुःखोंमें अलिप्त सम-भावसे ॥ १८ ॥

चंद्रिकाकी शीतलता । राजा रंककी समता ।
वैसे जो सकल भूत । है सामान ॥ ४ ॥

संपूर्ण जगत एक । जैसे सेवन उदक ।
वैसे उसकी त्रिलोक । करते चाह ॥ ५ ॥

अंतर बाह्य संग । करके सब अंग ।
शून्य हो अन्तरंग । वस्तुलीन ॥ ६ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

व ही मेरा घर ऐसी जिसकी मति—

निंदासे जो न खिन्न । स्तुतिसे न प्रसन्न ।
रहे जैसा गगन । निर्लेप ॥ ७ ॥

जो निंदा और स्तुति । रखके एक पांति ।
रमता प्राण-वृत्ति । सदा-सर्वत्र ॥ ८ ॥

सत्यासत्यको जो समान । बोलकर रहता मौन ।
भोगता है सदा उन्मन । अतृप्त भावसे ॥ ९ ॥

लाभसे जो न हरषाता । न अलाभसे कुम्हलाता ।
वर्षाके बिन ना सूखता । समुद्र जैसा ॥ २१० ॥

जैसा वायुका इक ठौर । रहता नहीं है आधार ।
वैसा ही न उसका घर । कहीं रहता ॥ ११ ॥

संपूर्ण आकाश स्थिति । वायुकी नित्य-वसति ।
वैसे है विश्व विश्रांति– । स्थान उसका ॥ १२ ॥

विश्व ही यह मेरा घर । ऐसी मति जिसकी स्थिर ।
या हुआ जो सचराचर । अपनेमें आप ॥ १३ ॥

स्तुति-निंदा तजे मौनी संतुष्ठ प्राप्त-भोगमें ।
स्थिर-बुद्धि निराधार भक्त जो है मुझे प्रिय ॥ १९ ॥

इस पर भी हे पार्थ । मेरे भजनमें आस्था ।
उसको करू मैं माथा । पर मुकुट ॥ १४ ॥

उत्तमको मस्तक । नमाना क्या कौतुक ।
मान देता त्रिलोक । पद रेणुको ॥ १५ ॥

श्रद्धा वस्तुका आदर । करना जानो प्रकार ।
होता है यदि शंकर । श्री गुरु ॥ १६ ॥

रहने दो यह भाषा । करनेमें है प्रशंसा ।
शंभुकी होती सहसा । आत्म-स्तुति ॥ १७ ॥

रहने दो यह उक्ति । कहता है रमापति ।
लेकर करता स्तुति । माथेपे उसे ॥ १८ ॥

अपने भक्तके अलिंगनके लिये दो हाथ कम पडे—

सिद्धि चौथा पुरुषार्थ । लेकर अपने हाथ ।
चला है जो भक्ति-पंथ । देते विश्वको ॥ १९ ॥

कैवल्यका ले अधिकार । करे मोक्षका व्यवहार ।
रहता नम्र जैसा नीर । स्वभावसे ॥ २२० ॥

उसको करुंगा नमस्कार । मुकुट धरुंगा सिरपर ।
चरण हृदय पीठ पर । पूजूंगा मैं ॥ २१ ॥

उसके गुणका भूषण । होगा मेरी वाणीका गान ।
उसकी कीर्तिका श्रवण । प्रेमसे करुंगा ॥ २२ ॥

उसके दर्शनका प्रलोभन । बने मुझ अचक्षुके नयन ।
करुं लीला सुमनसे पूजन । उसका मैं ॥ २३ ॥

अजी ! दो पर दो और । कर लेकर मैं चार ।
आलिंगनार्थ आतुर । आया उसके ॥ २४ ॥

उसके संगके सुखके लिये । आया हूं विदेही मैं देह लिये ।
उसके प्रेम बखानके लिये । वाणी है असमर्थ ॥ २५ ॥

उसका मैं हूं मित्र । उसमें क्या विचित्र।
सुनता जो चरित्र । उसका वह ॥ २६ ॥

करता है गुणगान । उससे भी मैं प्रसन्न।
वह है प्राण समान । मुझको प्रिय ॥ २७ ॥

अजी ! यह सांगत । कहा है जो प्रस्तुत।
भक्तियोग समस्त । योग-रूप ॥ २८ ॥

करता उसका आदर । धरता उसे सिरपर।
उस स्थितिकी है अपार । श्रेष्ठता सुन ॥ २९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

उक्त क्या ? मुझे अत्याधिक मधुर है—

गोष्ठि है यह रम्य । अमृत धारा धर्म्य।
करें प्रतीति-गम्य । सुनकर ॥ २३० ॥

श्रद्धाका जिसमें आदर । उरमें इसका विस्तार।
होता है चितमें सत्वर । अनुष्ठान सुलभ ॥ ३१ ॥

जैसे किया है निरूपण । वैसे हो मनका धारण।
तभी सुक्षेत्रमें रोपण । हुआ मानो ॥ ३२ ॥

मुझे मानकर परम । इसीलिये करके प्रेम।
यही सर्वस्व सर्वोपम । मान लेते जो ॥ ३३ ॥

विश्वमें अजी पार्थ । वही योगी औ' भक्त।
उत्कंठा है तदर्थ । मुझको सदा ॥ ३४ ॥

वही तीर्थ वही क्षेत्र । विश्वमें हैं वे पवित्र।
भक्ति कथाका हैं मित्र । सदैव ही ॥ ३५ ॥

जो धर्म-सार है नित्य मुझमें लीन होकर।
सेते श्रद्धालु जो भक्त अत्यंत प्रिय है मुझे ॥ २० ॥

करता म उनका ध्यान । मेरा यह देवतार्चन ।
उस बिना माने ना मन । दूसरा भला ॥ ३६ ॥

उसका है मुझे व्यसन । मेरा वह निधि निधान ।
अथवा मेरा समाधान । उनके मिलनमें ही ॥ ३७ ॥

ऐसी प्रेमकी वार्ता । जो है अनुवादता ।
है परम देवता । हमारी वह ॥ ३८ ॥

ज्ञानदेवका सगुण कृष्ण—

जो है निज-जनानंद । तथा जगदादिकंद ।
कहता है श्री मुकुन्द । बोला संजय ॥ ३९ ॥

होता है जो निर्मल । निष्कल लोक कृपाल ।
शरणागत प्रतिपाल । शरण्य वह ॥ २४० ॥

वह है धर्म-कीर्ति धवल । अगाध-दातृत्वमें सरल ।
तथा अतुल बल प्रबल । बलि बंधन ॥ ४१ ॥

सुर-सहायशील । लोक-लालन-लील ।
प्रणत-प्रतिपाल । खेल जिसका ॥ ४२ ॥

भक्त-जन-वत्सल । प्रेमी-जन-प्रांजल ।
सत्य-केतू सरल । कला निधि ॥ ४३ ॥

वह कृष्ण वैकुंठका । चक्रवर्ति अपनोंका ।
कहता बोल प्रेमका । सुनता पार्थ ॥ ४४ ॥

संजय कहता श्रीकृष्ण । अब करेंगे निरूपण ।
कीजिये आप श्रवण । धृतराष्ट्रसे ॥ ४५ ॥

ज्ञानदेव कहता तुम । संत सेवा करना हम ।
सिखाया है महा-महिम । निवृत्तिनाथने ॥ ४६ ॥

गीता श्लोक ५५

ज्ञानेश्वरी ओवी ७०८.

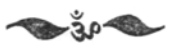

१३

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोग

आत्म-रूपी गणेश वंदन—

आत्म-रूप गणेश स्मरण। जो सकल विद्याधिकरण।
नमन करें वे श्रीचरण। श्रीगुरुके ॥ १ ॥

करनेसे जिसका स्मरण। शब्द-सृष्टि होती स्वाधीन।
चढ़ता सारस्वत संपूर्ण। जिह्वा पर ॥ २ ॥

तब है वक्तृत्वकी मधुरता। हटाती अमृतकी मधुरता।
नव-रस है चूता ही रहता। अक्षरोंसे ॥ ३ ॥

भावोंका अवतरण। स्पष्ट करता है चिन्न।
हस्तामलकसा पूर्ण। होता तत्व-भेद ॥ ४ ॥

श्रीगुरुके जब पाय। पकडता है हृदय।
महा-भाग्यका समय। उन्मेषका वह ॥ ५ ॥

उनको करके मैं वंदन। पितामहका पिता महान।
कहता जो श्रीलक्ष्मीरमण। कहूंगा वह ॥ ६ ॥

भगवान उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्रीभगवानने कहा

इस शरीरको पार्थ कहते क्षेत्र जान तू।
जानता यह जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ कहते उसे ॥ १ ॥

आत्मानात्म विचार—

सुन तू अब यह पार्था । देह है क्षेत्र कहलाता ।
इसको जो सही जानता । वह है क्षेत्रज्ञ ॥ ७ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

यहां है जो क्षेत्रका पालक । मुझको जान क्षेत्रज्ञ एक ।
बन सभी क्षेत्रका रक्षक । रहता हूं मैं ॥ ८ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको मान । जानना है यहां ज्ञान ।
समझें हम अर्जुन । इस समय ॥ ९ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

तभी हमने है क्षेत्र कहा । किस भावसे देहको यहां ।
कहता हूं प्रयोजन सह । सुन तू पार्थ ॥ १० ॥

इसको क्षेत्र क्यों कहना । इसका पैदा कैसा होना ।
किन विकारोंसे बढ़ना । कहता हूं यही ॥ ११ ॥

यह क्या तीन अर्ध हाथका है । या इससे भी अधिक बड़ा है ।
यह बंजर है या उर्वरा है । तथा है किसका ॥ १२ ॥

इत्यादि इसके सर्व । जो जो हैं वे सभी भाव ।
कहूंगा यह अपूर्व । सुन तू सावधान हो ॥ १३ ॥

शरीरके विषयमें भिन्न भिन्न विचार—

क्षेत्रज्ञ मुझको जान बसा मैं सब क्षेत्रमें ।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञका ज्ञान उसे मैं ज्ञान मानता ॥ २ ॥

क्षेत्र क्या उसमें कैसे विकार रहते कहो ।
कैसा क्षेत्रज्ञ कौन कहता सुन तू यह ॥ ३ ॥

अजी ! इसी स्थलके कारण । श्रुतिका चलता है भाषण ।
तर्ककी वाद बेखरी तीक्ष्ण । इसके लिये है ॥ १४ ॥

छाननेमें यह स्थान । थक गये हैं दर्शन ।
मिटे नहीं जो घर्षण । उनके कभी ॥ १५ ॥

अजी ! शास्त्रोंका भी नाता । इससे ही है टूटता ।
तथा इसीसे जुडता । झगडा जगतका ॥ १६ ॥

बातसे बात न मिलती । एक-वाक्यता नहीं होती ।
बनके वाचालता युक्ति । हुई समर्थ ॥ १७ ॥

त जाने किसका है यह स्थल । किंतु कैसी अभिलाषाका बल ।
घर घरमें है यह कपाल– । मोक्ष गाथा ॥ १८ ॥

नास्तिकोंसे करने मुटभेड । वेदोंने किया विद्रोह प्रचंड ।
उसको देख कर हैं पाखंड । बकवाद करते ॥ १९ ॥

कहते तुम निर्मूल । झूठा तुम्हारा वाग्जाल ।
प्रण हमारा है सबल । बीडा उठाकर ॥ २० ॥

पक्ष है जो पाखंड । नग्न लुंचित-मुंड ।
नियोजित वितंड । आते भानपे ॥ २१ ॥

मृत्यूके कसे हुए पाशमें । जायेगा यह इस भयमें ।
चले योगी-जन निर्णयमें । इस क्षेत्रके ॥ २२ ॥

मृत्यूसे हैं जो भयग्रस्त । करते वनमें एकांत ।
यम-दम-अभ्यास-रत । हो पाते पूर्ण ॥ २३ ॥

इस क्षेत्राभिमान मगन । कैलास तजता है ईशान ।
बसता है जाकर स्मशान । उल्झन भयसे ॥ २४ ॥

इस प्रतिज्ञासे शंकर । सिकुडकर सभी ओर ।
करता राख घूस-खोर । मन्मथकी भी ॥ २५ ॥

तथा सत्य-लोक-नाथ । वदन चार वादार्थ ।
किंतु वे नहीं सर्वथा । जानते कुछ ॥ २६ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः प्रथक ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

ज्ञानेश्वर द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विषयमें भिन्न भिन्न मतोंका विवेचन—

आत्मानात्म विवेक जीववादी दृष्टिसे—

एक कहता यह स्थल । जीवका ही है सहमूल ।
फिर प्राण है यह कुल । उसका यहां ॥ २७ ॥

घरमें उस प्राण के । चार भाई जो उसके ।
तथा मन-सा जिसके । प्रबंधक है ॥ २८ ॥

इन्द्रिय-बैलोंका जो समूह । नहीं देखता काल प्रवाह ।
करता है श्रम बिना आह । विषय-खेतमें ॥ २९ ॥

खोकर विहित कर्म अवसर । अन्याय-बीजकी बुवाई कर ।
कुकर्मार्थ सब परिश्रम कर । फसल काटता ॥ ३० ॥

तभी उसीके समान । पाता है पाप जो मन ।
भोगता दुःख महान । जन्म-कोटि ॥ ३१ ॥

या विधिवत कर उद्यान । किया सत्कर्म-बीजारोपण ।
शत शत है जन्मानुदिन । सुख-भोग ॥ ३२ ॥

प्रकृतिवादियोंकी दृष्टिसे—

कहते हैं तब कुछ औ । जीवका न कहो यह ठौर ।
हमसे जानो इसका विचार । पूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥

अजी ! है यहां जीव पथिक । चलती राहमें रहा रुक ।
प्राण है जो यहां मालिक । जग रहा है ॥ ३४ ॥

यहां जो अनादि प्रकृति है । सांख्य जिसके गीत गाते हैं ।
खेत यह उसकी वृत्ति है । जान तू यह ॥ ३५ ॥

गाया विविध मंत्रोंमें ऋषियोंने इसे प्रथक् ।
कहा है ब्रह्म-सूत्रोंमें सप्रमाण सुनिश्चत ॥ ४ ॥

इसके पास है साधन। घरका ही है बारदान।
तब बनती है किसान। अपने आप ॥ ३६ ॥

झमेलेमें नित चतुर। इसके हैं तीन कुमार।
करते सब कारोभार। गुण हैं जो ॥ ३७ ॥

रजो-गुण बुवाई करता। सत्व जो उसको संभालता।
तमोगुण फसल काटता। अकेला ही ॥ ३८ ॥

महतत्वका रच खलिहान। काल-सांडसे कराके मांडन।
अव्यक्तका वहां ढेर महान। होता रहता है ॥ ३९ ॥

कल्प वादियोंकी दृष्टिसे—

तब कहते कुछ बुध्दिमान। प्रकृति वादियोंसे बुरा मान।
यह है अति आर्वाचीन। आप लोगोंका ॥ ४० ॥

अजी! चित देकरके हो स्वस्थ। सुनो तुम यह क्षेत्र-वृत्तांत।
तत्वमें कहां प्रकृतिकी बात। कहते हैं यह ॥ ४१ ॥

वह शून्य शैय्यागृहमें। पूर्णावस्थाकी लीनतामें।
शक्त-संकल्पने शैय्यामें। निद्रा की थी ॥ ४२ ॥

जगा जो वह अकस्मात। उद्योगमें था भाग्यवंत।
मिली है पूंजी अमानत। इच्छ-मात्रसे ॥ ४३ ॥

निराकारके उद्यानमें। त्रिभुवनकी समतामें।
आया जो है व्यक्त रूपमें। उससे यह ॥ ४४ ॥

महा-भूतोंकी जो ऊसर। कसके उसे उर्वर।
भूतग्रामके बांधे चार। सीमा मेड़ ॥ ४५ ॥

अजी! प्रारंभ किया फिर। पंच तत्वात्मक शरीर।
समुचित मिश्रण कर। पंच-भूतका ॥ ४६ ॥

कर्माकर्मके पत्थर। रख बांधे दोनों ओर।
किया है अति उर्वर। ऊसर था जो ॥ ४७ ॥

आवागमनार्थ यहां फिर। जन्म मृत्युके बांधे गव्हर।
रक्षाका ऐसा प्रबंध कर। संकल्पने तब ॥ ४८ ॥

अंहाकारसे हो एक। वह भी पूर्णायुतक।
बुध्दिसे कार्य कृषक। कराया चराचर ॥ ४९ ॥

इस भांति है निराली। बडी संकल्पकी डाली।
इसीलिये है वह मूली। यहां प्रपंचकी ॥ ५० ॥

ऐसे हैं यह मत-मुक्तक। व्यक्त हुए हैं जब शाब्दिक।
जी! आप हैं बडे विचारक। कहते हैं और ॥ ५१ ॥

स्वभाव-वादियोंकी दृष्टिसे—

अजी! गांवमें पर-तत्वके। पर्यंकको देखें संकल्पके।
तो क्यों प्रकृति-वादियोंके। तर्क नहीं माने ॥ ५२ ॥

किंतु ऐसा नहीं कहना। इसमें तुम्हें न पडना।
कहा जायेगा यह पूर्ण। हमसे अब ॥ ५३ ॥

आकाश कहो है कौन। भरता मेघोंसे पूर्ण।
अधरमें तारा-गण। कौन रखता ॥ ५४ ॥

गगनका यह वितान। किसने ताना महान।
होता वायुका संचालन। किसकी आज्ञासे ॥ ५५ ॥

रोमोंकी बुवाई करता कौन। समुद्रको सदा भरता कौन।
पर्जन्य धाराको गिराता कौन। कहो यहां ॥ ५६ ॥

यह क्षेत्र है ऐसा स्वाभाविक। न है कोई इसका मालक।
पाता है जो करता देखरेख। अन्य नहीं कोई ॥ ५७ ॥

कालवादिकी दृष्टिसे—

कहता है तब और एक। तुम कहते हो बडा नेक।
कहो कैसे भोगता है एक। केवल काल ॥ ५८ ॥

यह क्रोधी मृत्यु-सिंहका। गव्हर अपना उसका।
नहीं क्या व्यर्थ प्रलापका। सही उत्तर ॥ ५९ ॥

सभी हैं इसकी मार। देखते हैं अनिवार।
किंतु स्व-मतपे भार। दे बोलते हैं ॥ ६० ॥

महा-कल्पके उस ओर । यकायक झपट्टा मार।
प्रहार भद्र जाती पर । किया सत्य लोकके ॥ ६१ ॥

नित-नव नव लोकपाल। तथा दिग्गजोंको यह काल।
स्वर्ग-काननमें जा विपुल । तोड़ता रहता ॥ ६२ ॥

शरीर-समीरसे इसके । गर्तमें जनम-मरणके ।
भूमिष्ट पडे निर्जीव होके । जीव-मृग हैं ॥ ६३ ॥

फैला है इसका पंजा। मानो यह है शिंकजा ।
बनाके आकर गज । करता है ग्रास ॥ ६४ ॥

इसीलिये कालकी सत्ता । कहते हैं हम निश्चित ।
ऐसा वाद है पांडुसुत। इस क्षेत्रका ॥ ६५ ॥

क्षेत्रके विषयमें सभी अज्ञानमें हैं—

कर चुका है वाद विपुल । नैमिशारण्यमें ऋषि-कुल ।
पुराण इसके अनुकूल। आधार रूप हैं ॥ ६६ ॥

हैं अनुष्टुप आदि छंद । इस विषयमें विविध ।
होते हैं आधार स-श्रध्द । आज भी लोगोंके ॥ ६७ ॥

वेदोंके बृहत्साम-सूत्र। जो हैं अतिशय पवित्र।
उसको भी है यह क्षेत्र। अज्ञात-रूप ॥ ६८ ॥

अन्य और अगणित । महा-कवि बुद्धिमंत ।
इसपे अपना मत । देते रहते हैं ॥ ६९ ॥

किंतु यह किसका है। किसके स्वामित्वमें है।
समझमें न आता है । किसीक भी ॥ ७० ॥

अजी ! यह है जैसे । अब क्षेत्र है कैसे ।
कहता मैं तुझसे। सुन साद्यन्त ॥ ७१ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पंच भूत अहंकार बुद्धि अव्यक्त मूल जो ।
एकादश इंद्रियोंको खींचे विषय पंचक ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इस शरीरके मूल-भूत छैंतीस तत्व—

है महा-भूत पंचक । तथा अहंकार एक ।
बुध्दि अव्यक्त दशक । इंद्रियोंका ॥ ७२ ॥

और भी है एक । विषय-दशक ।
द्वेष सुख दुःख । संघात इच्छा ॥ ७३ ॥

तथा चेतना धृति । एवं है क्षेत्र वृत्ति ।
कही तुझसे अति । अल्प-रूपसे ॥ ७४ ॥

कौन है महा भूत । विषय क्या है पार्थ ।
औ' इंद्रिय सहित । कहता हूं सब ॥ ७५ ॥

पृथ्वी जल अग्नि । वायु तथा गगन ।
ये हैं पांच अर्जुन । महा-भूत ॥ ७६ ॥

अहंकारका रूप—

जागृतिमें जैसे स्वप्न । आंखोंमें रहता लीन ।
या अमावासके दिन । चंद्र होता गुप्त ॥ ७७ ॥

बालकोंमें जैसे अर्जुन । छिपा रहता है यौवन ।
या कलिमें होता प्रसन्न । सुगंध गुप्त ॥ ७८ ॥

अथवा जैसे इन्धनमें । अग्नि होता सुप्तावस्थामें ।
वैसे होता है प्रकृतिमें । गुप्त-रूपसे ॥ ७९ ॥

अथवा धातु गत ज्वर । कुपथ्यादिष देखकर ।
होता है अंदर बाहर । व्याप्त अर्जुन ॥ ८० ॥

ऐसे पांचोंसे मिल कर । देहका आकार लेकर ।
नचाता तब अहंकार । दश-दिशामें ॥ ८१ ॥

इच्छा द्वेष सुख-दुःख धृति संघात चेतना ।
विकार-युक्त है क्षेत्र अल्पमें तुझसे कहा ॥ ६ ॥

अहंकारका इक अचरज है । अज्ञानियोंको जो नहीं सताता है ।
ज्ञानियोंको ही नचाता रहता है । सिर पर चढके ॥ ८२ ॥

द्वेका लक्षण—

बुद्धिके जो लक्षण । जान ले तू अर्जुन ।
कहता है श्रीकृष्ण । यदुराज ॥ ८३ ॥

कंदर्पका ले सहाय । वृत्ति-सह जो इन्द्रिय ।
जीत लाते हैं विषय । धनुर्धर ॥ ८४ ॥

सुख दुःखके लूटका माल । जीवको अंतरंग सकल ।
दिखाता तब देता फैसला । चुनावमें योग्य ॥ ८५ ॥

यह है क्लेष या तोष । है यह गुण या दोष ।
मैला है या यह चोख । दिखाता सब ॥ ८६ ॥

अधमोत्तम जिसे सूझता । छोटा बडा है जो देख पाता ।
अपनी दृष्टिसे परखता । विषयोंको जो ॥ ८७ ॥

तेज तत्वका आदि । सत्व-गुणकी वृद्धि ।
आत्म-जीवकी संधि । जागृत रखता ॥ ८८ ॥

व्यक्त प्रकृतिका रूप—

जान तू यह अर्जन । बुद्धि-तत्त्व है संपूर्ण ।
अब सुन पहचान । अव्यक्तकी ॥ ८९ ॥

जिसको है सांख्य सिद्धांत । करता प्रकृति घोषित ।
यहांपे है यही प्रस्तुत । अव्यक्त जो ॥ ९० ॥

तथा है सांख्य-योगके मतसे । प्रकृति-विचार कहा तुझसे ।
जहां प्रकृतिके दोनों रूपसे । तू है परिचित ॥ ९१ ॥

दूजी जो वहां जीव दशा । जिसका नाम है वीरेशा ।
उसे यहां अव्यक्त ऐसा । कहा गया है ॥ ९२ ॥

रजनीका होते ही अस्त । नभमें होते तारा लुप्त ।
रुकती होनेपे सूर्यास्त । भूतमात्रकी क्रिया ॥ ९३ ॥

देह-पात पर अर्जुन । देह होती उपाधि-लीन ।
कृत-कर्ममें अनुदिन । डुबी रहती ॥ ९४ ॥

बीज-रूपमें यह सतत । रहता है वृक्ष समस्त ।
अथवा पटत्व बन सूत । रहता जैसे ॥ ९५ ॥

वैसे छोड़के स्थूल धर्म । महा भूतोंके भूत-ग्राम ।
लय हो रहते हैं सूक्ष्म । जिस स्थानपे ॥ ९६ ॥

उसका नाम अर्जुना । अव्यक्त यह जानना ।
अब संपूर्ण सुनना । इंद्रिय-भेद ॥ ९७ ॥

इंद्रिय विवेचन —

यहां श्रवण नयन । त्वचा औ' रसना घ्राण ।
इसको ज्ञानके जान । पांच इंद्रिय ॥ ९८ ॥

मेलेमें इन तत्वोंके । विचार सुख-दुःखके ।
करती है इंद्रियोंके- । द्वारा बुध्दि ॥ ९९ ॥

फिर वाचा और कर । पाय तथा अधोद्वार ।
तथा है जनन द्वार । पांच पार्थ ॥ १०० ॥

ये हैं कर्मेंद्रियां जान । कैवल्य-पति श्रीकृष्ण ।
कहता है तू अर्जुन । सुन ले यह ॥ १ ॥

प्राणोंको जो प्रिया होती । क्रिया-शक्ति कहलाती ।
तनमें है आती जाती । इन पांचोंसे ॥ २ ॥

ऐसे ये दश-करण । बताये तुझे अर्जुन ।
कहता हूं अब मन । रहता कैसा ॥ ३ ॥

मनका विवेचन —

इंद्रिय-बुध्दि मध्य पर । रजोगुणका ले आधार ।
अतीव तरल होकर । रहता पार्थ ॥ ४ ॥

आकाशकी नीलिमा-सा । मृग-जल-तरंग सा ।
व्यर्थका मिथ्याभास-सा । रहता है वह ॥ ५ ॥

था-शुक्रशोणित मिलन । देता है पंच-तत्वको चिन्न ।
क वायु-तत्व अर्जुन । बनता दस रूप ॥ ६ ॥

फर यह दस प्रकार । देहका सामर्थ्य लेकर ।
पने निज स्थान पर । हुए प्रतिष्ठित ॥ ७ ॥

हां चांचल्य चपल । रहा जो एक केवल ।
ससे रजका बल । लिया उसने ॥ ८ ॥

बुद्धिके वह बाहर । अहंताके उर पर ।
से मध्य-स्थान पर । दृढ हो बैठा ॥ ९ ॥

व्यर्थ है उसका नाम मन । जो मात्र कल्पना मूर्तिमान ।
उसके संगसे मिला जान । वस्तुको जीव भाव ॥ १० ॥

प्रकृतिका है जो मूल । कामको जिसका बल ।
वेतता है जो प्रबल । अहंकार ॥ ११ ॥

इच्छाको वह बढ़ाता । आशाको वह चढ़ाता ।
क्षण नित करता । भयका जो ॥ १२ ॥

द्वैतका जो उगम-स्थान । अविद्या करे बलवान ।
इन्द्रियोंका करे पतन । विषयोंमें ॥ १३ ॥

संकल्पोंसे है सृष्टि रचता । विकल्पोंसे उसको तोड़ता ।
मनोरथोंका ढेर चढा था- । उतराता वह ॥ १४ ॥

भ्रांतिका जो भंडार । वायु तत्व-अंतर ।
तथा बुद्धिका द्वार । करता बंद ॥ १५ ॥

यह कहलाता मन । अन्य कछु नहीं जान ।
अब विषयाभिदान । बताता हूं ॥ १६ ॥

यर्योंका स्पष्टीकरण—

स्पर्ष तथा शब्द । रूप रस गंध ।
हैं ये पंच-विध । ज्ञानेंद्रियोंके ॥ १७ ॥

इन द्वारोंसे निरंतर । दौडता है ज्ञान बाहर ।
भ्रांत हो जैसा जानवर । हरा चारा देख ॥ १८ ॥

फिर स्वर वर्ण विसर्ग । अथवा स्वीकार औ' त्याग ।
तथा संक्रमण उत्सर्ग । विण्मूत्रोंका ॥ १९ ॥

कर्मेंद्रियोंके पांच । विषय हैं ये सच ।
बांध करके माच । चलती क्रिया ॥ १२० ॥

ऐसे दस बसे हैं । देहमें विषय हैं ।
इच्छा जो कहाती है । कहते अब ॥ २१ ॥

इच्छका स्वरूप तथा द्वेष—

गत भोग जब है स्मरता । या ऐसा शब्द कानपे आता ।
तो कानपे हाथ रख जाता । न तो वृत्ति-जगती ॥ २२ ॥

विषयेंद्रिय भेंट होती । तभी वह जाग उठती ।
कामका हाथ धर वृत्ति । उठती जो ॥ २३ ॥

अजी ! उठनेसे यह वृत्ति । मनकी होती तीव्र-गति ।
जहां नहीं जाना वहां जाती । ललचाकर इन्द्रियां ॥ २४ ॥

जिस प्रवृत्तिके लोभसे । बुद्धि हो पगलाई जैसे ।
इन्द्रियां लुब्ध हो उससे । वह है इच्छा ॥ २५ ॥

इन्द्रियोंका जो इच्छित विषय । नहीं पाती वे जब धनंजय ।
तब अनुभवती जो इन्द्रिय । वह है द्वेष ॥ २६ ॥

सुख दुःखका स्वरूप—

कहता हूं अब सुख । वह ऐसा है तू देख ।
जिस एकसे अशेष । भूले सब जीव ॥ २७ ॥

अजी ! तन मन वचन । अपनी सौगंधसे जान ।
देह-स्तुतिको बल-हीन । करते आता ॥ २८ ॥

पानेसे जिसे अर्जुन । शिथिल होता है प्राण ।
दूना होता है सत्व-गुण । पहलेसे भी ॥ २९ ॥

इन्द्रिय-वृत्तियोंको संपूर्ण । हृदयमें ला एकांत स्थान ।
करता है शांत निद्राधीन । पुचकाकर ॥ १३० ॥

कहूं क्या इससे अधिक । जीव होता आत्मासे एक ।
उस स्थितिका नाम सुख । पांडुकुमार ॥ ३१ ॥

तथा ऐसी अवस्था । न पाके जीना पार्थ ।
तुम जानो सर्वथा । नाम दुःखका ॥ ३२ ॥

मनोरथ जो संगसे नहीं । वैसे वह स्वयं-सिद्ध है ही ।
इन दोनोंके कारणसे ही । सुख है औ' दुःख ॥ ३३ ॥

चेतनाका विवेचन—

अब है असंग औ' साक्षी-भूत । जिसकी सत्ता देहमें सतत ।
नाम उसका यहां पांडुसुत । चेतना है ॥ ३४ ॥

नखसे जो शिख पर्यंत । तन पे सर्वत्र जागृत ।
नहीं होता परिवर्तित । अवस्थात्रयमें ॥ ३५ ॥

मन-बुद्धि आदि प्रफुल्लित । औ' प्रवृत्ति-वनमें वसंत ।
खिला रहता जिससे पार्थ । सदैव ही ॥ ३६ ॥

जडाजड़से समान । करता है जो वर्तन ।
कहता हूं मैं चेतन । यह नहीं मिथ्या ॥ ३७ ॥

राजा परिवार नहीं जानता । आज्ञासे पर-चक्र दूर होता ।
पूर्ण-चंद्र देख उमड़ आता । महा-सागर ॥ ३८ ॥

या चुंबकका सन्निधान । करता लोहेको चेतन ।
सूर्य-संगसे होते जन । कार्य-प्रवृत्त ॥ ३९ ॥

मुख लगाये बिन । पिल्लोंका है पोषण ।
करती है अर्जुन । कूर्मी जैसे ॥ १४० ॥

उसी भांतिसे अर्जुन । अत्म-संगसे है तन ।
प्राप्त करता जीवन । जड़ है जो ॥ ४१ ॥

इसको है चेतन । कहते हैं अर्जुन ।
धृतिका विवेचन । सुन तू अब ॥ ४२ ॥

धृतिका विवेचन—

पंच तत्वमें परस्पर । जाति-स्वभावसे है वैर ।
डुबोता है पृथ्विको नीर । प्रकट रूपसे ॥ ४३ ॥

पानीको तेज सोखता । वायु तेजसे लड़ता ।
वायुका नाश करता । गगन सहज ॥ ४४ ॥

कभी किसीमें न मिलकर । किसीसे मिलन न होकर ।
पैठकर भी भिन्न भीतर । रहता आकाश ॥ ४५ ॥

पंच-भूत ऐसे परस्पर । करते रहते सदा वैर ।
किंतु एक बनके शरीर । रूप होता प्रकट ॥ ४६ ॥

शत्रुता छोड भीषण । रहते कर संघटन ।
परस्पर कर पोषण । अपने गुणसे ॥ ४७ ॥

जिनमें स्वभावसे शत्रुता । रहती है वे कर मित्रता ।
जिस गुणसे है यह होता । धृति उसका नाम ॥ ४८ ॥

संघात और क्षेत्र-विवेचन—

तथा जीव सह साथ । छत्तीस है यहां साथ ।
वह है यहां संघात । तत्व जान ॥ ४९ ॥

ऐसे छत्तीस ही भेद । किये तुझसे विषद ।
इसको जान प्रसिध्द । क्षेत्र है यह ॥ १५० ॥

जैसे रथांगोंका समुदाय । रथ कहलाता धनंजय ।
या शरीरावयव इंद्रिय । कहलाता शरीर ॥ ५१ ॥

करि तुरंगादिका समाज । कहलाता है सैन्य सहज ।
वाक्य कहलाते हैं जो पुंज । शब्दोंके ॥ ५२ ॥

जल-धरोंके मंडल । कहलाते हैं बादल ।
अनेक लोक सकल । कहलाता जगत ॥ ५३ ॥

या तेल बात अगिन । आते जब एक स्थान ।
दीप कहते हैं जान । धनंजय ॥ ५४ ॥

ये जो छत्तीस ही तत्व । मिलते हैं हो एकत्व ।
वह समूह-परत्व । कहलाता क्षेत्र ॥ ५५ ॥

बोआईके व्यवहारसे । पाप-पुण्य पक जानेसे ।
हमने कहा कौतुकसे । क्षेत्र है यह ॥ ५६ ॥

अनेकोंका है मत । देह है यह पार्थ ।
इसके हैं अनंत । यहां नाम ॥ ५७ ॥

इस ओर परतत्वके । औ' उस ओर स्थावरके ।
होता जाता है जो उसके । नाम क्षेत्र है ॥ ५८ ॥

किंतु सुर-नर-उरग । आदि होते योनि-विभाग ।
सब गुण-कर्मके संग । भिन्न हैं पार्थ ॥ ५९ ॥

यह गुण-विवेचन । आगे आता है अर्जुन ।
प्रस्तुत है यहां ज्ञान- । रूप दिखाऊं ॥ १६० ॥

ानकी महानता, ध्यानकी विविधता—

तुझे क्षेत्र सविस्तर । मैंने कहा स-विकार ।
सुन अब तू उदार । ज्ञानका रूप ॥ ६१ ॥

जिस ज्ञानार्थ योगी-जन । स्वर्गका कर उल्लंघन ।
निगलते सदा गगन । धनंजय ॥ ६२ ॥

सिध्दिकी आस न करते । ऋध्दिका ध्यान न धरते ।
योगके कष्ट हैं सहते । तुच्छ मानके ॥ ६३ ॥

तप-दुर्गोंको पार करते । यज्ञादि अनुष्ठान करते ।
तथा उलटाकर छोड़ते । कर्म-वल्ली ॥ ६४ ॥

कुछ जो भजन मगन । दौडते हैं खुले वदन ।
कुछ सुरंगमें अर्जुन । घुसते सुषुम्नाके ॥ ६५ ॥

ऐसे हैं इस ज्ञानार्थ । मुनीश्वर जो इच्छित ।
फिरते हैं पात पात । वेद-तरुके ॥ ६६ ॥

देगी यह गुरु-सेवा । इस बुध्दिसे पांडव !
करते जन्मका ठेवा । न्योच्छावर ॥ ६७ ॥

अजी ! प्रवेश उस ज्ञानका । नाश करता है अविद्याका ।
ऐक्य साधता जीव-आत्मका । पांडुकुमार ॥ ६८ ॥

इंद्रियोंका द्वार रोकता । प्रवृत्तिका पैर तोड़ता ।
दारिद्र्यको नष्ट करता । मन-बुध्दिका ॥ ६९ ॥

हरता द्वैतका अकाल । करता साम्यका सुकाल ।
प्राप्त होती ऐसी उज्वल । स्थिति ज्ञानसे ॥ १७० ॥

मदको करता नाम शेष । न रखता भ्रांति-अवशेष ।
तथा आप-परका है भास । नष्ट करता ॥ ७१ ॥

करता संसार उन्मूल । धोता संकल्प-महामल ।
घेरता ज्ञेयको सकल । जो है अनावर ॥ ७२ ॥

जिसका है उज्वलपन । खोलता बुध्दिके नयन ।
बने जीवका क्रीडांगन । आनंद धाम ॥७३ ॥

ऐसे है यह ज्ञान । पवित्र्यक्य निधान ।
जहां भृष्ट हो मन । होता निर्मल ॥ ७४ ॥

आत्माको जो जीव-बुद्धि । लगी जैसी क्षय-व्याधि ।
वह उसकी सन्निधि । करती दूर ॥ ७५ ॥

उस अनिरूपका निरूपण । सुनकर होगा बुद्धिको ज्ञान ।
किंतु देख न सकेंगे नयन । उसको कभी ॥ ७६ ॥

अजी ! शरीरमें वह जब । शक्ति प्रकट करता तब ।
इंद्रियोंके व्यापारसे सब । देखेंगे नयन ॥ ७७ ॥

वसंतका शुभागमन । दिखाता खिला हुवा वन ।
वैसे दिखाते हैं करण । अस्तित्व ज्ञानका ॥ ७८ ॥

वृक्षके जडमें नीर । पातालमें धनुर्धर ।
दिखाते वह अंकुर । लहरा कर जैसे ॥ ७९ ॥

अथवा भूमिकी है मृदुता । कहे अंकुरोंकी कोमलता ।
आचार गौरव विविधता । सत्कुलिनोंकी ॥ १८० ॥

आदरातिथ्यका समारोह । प्रकट करता जैसे स्नेह ।
या दर्शनसे होता उत्साह । पुण्य-पुरुषके ॥ ८१ ॥

कदली-वृक्षमें उत्पन्न कपूर । जाना जाता है सुगंधसे सुन्दर ।
जैसे प्रकाश फैलाता है बाहर । स्फटिक घटका दीप ॥ ८२ ॥

अजी ! वैसे हृदय स्थित-ज्ञान । प्रकटता बन देह-लक्षण ।
उसे कहता हूं तुझे अर्जुन । सुन ध्यान देकर ॥ ८३ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

ानके लक्षण–१ अमानित्व—

नहीं रुचता है उसे । होड करना किसीसे ।
सज्जनता भी है उसे । लगता बोझ ॥ ८४ ॥

करनेसे गुण-वर्णन । मान्यताका भी दिया मान ।
प्रकट होनेसे अर्जुन । योग्यताका ॥ ८५ ॥

घबडाता है वह कैसा । व्याधसे घिरा मृग जैसा ।
अथवा भंवरमें फसा । तैराक मानो ॥ ८६ ॥

सम्मानको यह सुभट । पास आया मान संकट ।
आने न देता है निकट । गरिमा अपने ॥ ८७ ॥

नम्रता दंभ-शून्यत्व अहिंसा ऋजुता क्षमा ।
पावित्र्य गुरु-शुश्रुषा स्थिरता आत्म-संयम ॥ ७ ॥

न देखना आंखोंसे पूजना । स्वकीर्ति कानोंसे न सुनना ।
लोगोंको स्मरण नहीं होना । अपना कभी ॥ ८८ ॥

वहां सत्कारकी गोष्ठि । न आदर न है भेटी ।
मनमें होता है कष्टी । नमस्कारसे ॥ ८९ ॥

वाचस्पतिकी भांति । सर्वज्ञताकी प्राप्ति ।
होके भी है छिपाती । भीति कीर्तिकी ॥ १९० ॥

चातुर्यको छिपाता । महत्वको भुलाता ।
बावला हो रहता । प्रेमसे जो ॥ ९१ ॥

लौकिकका उसे उद्वेग । शास्त्रार्थका भी है उबग ।
मनमें है नाम सुभग । रहता स्वस्थ ॥ ९२ ॥

लोगोंसे हो अनादर । आप्तोंसे न अंगीकार ।
ऐसी लालसा अपार । रहती उसकी ॥ ९३ ॥

नम्रताका व्यवहार । अल्पत्व हो अलंकार ।
करना ऐसे आचार । उसका स्वभाव ॥ ९४ ॥

रहता है या नहीं । ऐसा रहना कहीं ।
मनमें आशा यही । जीवनमें सदा ॥ ९५ ॥

चलता है या नहीं वहां । हवासे उडता है कहां ।
ऐसा भ्रम हो जहां तहां । सहज रहे ऐसा ॥ ९६ ॥

मेरा अस्तित्व हो लोप । मिट जाये नाम-रूप ।
जिससे भय हो लोप । प्राणि-मात्रका ॥ ९७ ॥

उसकी ऐसी मनौति । एकांतमें होती प्रीति ।
एकांतसे नित्य-रति । उसको सर्वत्र ॥ ९८ ॥

हवासे उसका पटता । गगनसे बोलना भाता ।
वृक्षोंसे मैत्री है करता । जीव-भावसे ॥ ९९ ॥

अथवा है इस भांतिके । लक्षण दीखते जिसके ।
सह-शैयामें ही उसके । रहता ज्ञान ॥ २०० ॥

साधकमें अमानित्व गुण । जानना है ऐसा सुलक्षण।
कहूंगा अदंभका लक्षण । तुझसे अब ॥ १ ॥

अदंभका विवेचन—

अदंभत्व यह ऐसा । लोभीका धन हो जैसा।
न कहता ठाव जैसा । प्राणांतमें भी ॥ २ ॥

उस पर मानो सुभट । आया यदि प्राण-संकट।
किंतु न करता प्रकट । सत्कर्म अपना ॥ ३ ॥

सहज आयी दुग्धार्द्रता । सोखती गायकी दुष्टता।
या छिपाती वेश्या प्रौढता । वैसे ही धनंजय ॥ ४ ॥

या श्रीमंत श्री-मानता । अरण्यमें है छिपाता।
या तनकी सुंदरता । कुलांगना ॥ ५ ॥

बोया हुवा बीज छिपाता । उसपे है माटी डालता।
ऐसे ही सत्कर्म छिपाता । पुण्यके वह ॥ ६ ॥

देहकी पूजा नहीं करता । लोक-रंजन नहीं करता।
स्वधर्मको न बांध सकता । वाग्ध्वजमें कभी ॥ ७ ॥

परोपकार नहीं कहता । न करें साधनाकी वाच्यता।
पाया हुवा पुण्य न बेचता । वैभवार्थ कभी ॥ ८ ॥

देख उसके अंग-भोग । लगता कृपण अभाग।
धर्म-कर्ममें महा-भाग । न कम या अधिक ॥ ९ ॥

घरमें सदा तंग । रहता कृष अंग।
दानमें आगे पग । सुर-तरु-सा ॥ २१० ॥

या स्वधर्ममें महान । स-समय देता दान।
आत्म-चर्चामें निपुण । वैसे मूढ ॥ ११ ॥

कदलीका अंग छिलकेदार । लगे हलका थोथा धनुर्धर।
होता है रसाल पकनेपर । वैसा ही जान ॥ १२ ॥

या हलका अंग जैसे मेघका । उडायेगा मानो झोंका वायुका ।
किंतु बरसते आश्चर्यका । घनघोर मेह ॥ १३ ॥

होता वह पूर्णत्वमें जैसे । देख तृष्णा भी पूर्ण हो वैसे ।
किंतु रहता है कंगालीसे । परिपूर्ण ॥ १४ ॥

ऐसे जो चिन्ह-युत । दीखता है सतत ।
ज्ञान है करगत । नित्य उसके ॥ १५ ॥

है जो अदंभ पन । इसीका नाम जान ।
अब तू मर्म सुन । अहिंसाका ॥ १६ ॥

३ अहिंसा-विवेचन, याज्ञिक-अहिंसा—

अहिंसाके अनेक प्रकार । कहते हैं नाना मतांतर ।
करते हैं अपना प्रचार । निरूपणसे ॥ १७ ॥

वह सब ऐसा देख । जैसा तोड़ कर शाख ।
किया है जडमें देख । उससे बाढ ॥ १८ ॥

या हाथोंको तोड-बेचकर । करना क्षुधाका परिहार ।
या मंदिरको तुड़वा कर । बांधलें पौली ॥ १९ ॥

वैसे हिंसा कर अहिंसा । उत्पन्न करना है ऐसा ।
निर्णय है पूर्ण-मीमांसा– । का धनंजय ॥ २२० ॥

अवृष्टिके उपद्रवसे जब । विश्व होता है जर्जरित तब ।
करना याग नाना विध सब । पर्जन्यार्थ ॥ ५१ ॥

जब होता यज्ञका मूल । पशु-हिंसासे ही सरल ।
कहो तब अहिंसा-कूल । देखें कैसे ? ॥ २२ ॥

बोनेसे केवल हिंसा । फलेगी कैसी अहिंसा ।
अचरजका साहस । याज्ञिकोंका ॥ २३ ॥

आयुर्वेद और अहिंसा—

तथा अयुर्वेद संपूर्ण । इसी ढंगका है अर्जुन ।
करना जीवके कारण । जीव घात ॥ २४ ॥

विविध रोगसे पीडित । देख उसमें जर्जरित ।
हिंसा कर निवारणार्थ । कहा चिकित्सा ॥ २५ ॥

देखो उस चिकित्साको । खोदा किसीके जड़को ।
उखाड़ा किसी वृक्षको । समूल-पत्र ॥ २६ ॥

किसीका गाभा निकाल । किसिकी खाल छील ।
किसीका तोडा कोंपल । पकाने पुट देने ॥ २७ ॥

अजात-शत्रु वे तरुवर । सर्वांग उनका चीरकर ।
ऐसा जीव लेके धनुर्धर । किया नीरस ॥ २८ ॥

तथा जंगमको भी हाथ । लगाकर निकाला पित्थ ।
फिर किये रोग-पीडित । भले चंगे ॥ २९ ॥

यावहारिक अहिंसा—

अजी ! तोड वसति घर । बांधे जाते मंदिर-द्वार ।
व्यवहारमें लूट कर । बांधा अन्न-छत्र ॥ २३० ॥

पगडी बांधी सिरपर । अपनी धोती खोलकर ।
या तोडके अपना घर । डाला मंडवा ॥ ३१ ॥

अपनी रजाई जलाकर । ताप लिया जैसे रात-भर ।
जैसे स्नान करता कुंजर । मृतिकासे ॥ ३२ ॥

गोठा बांधा बैल बेच कर । या तोता दे लिया पंजर ।
ऐसी करणी देख कर । हंसी आाती है ॥ ३३ ॥

कोई धर्म धर्म कहते । पानीको छानकर पीते ।
उसी तापसे हैं मरते । जीव असंख्य ॥ ३४ ॥

न पकाके खाते धान । हिंसाके भयसे जान ।
जिससे तडपे प्राण । यही है हिंसा ॥ ३५ ॥

एवं हिंसाको अहिंसा । कर्म-कांडमें है ऐसा ।
सिध्दांत है सुमन-सा । जान ले तू ॥ ३६ ॥

नाम लिया अहिंसाका । दर्शन हुवा मतोंका ।
अंकुर फूटा स्फूर्तिका । मतिमें यहां ॥ ३७ ॥

तब इसको कैसे छोड़ना । इसलिये पडा है कहना ।
तुझको भी इसे है जानना । यही भाव ॥ ३८ ॥

जब कभी अहिंसापे कहा जाता । इसी भांति है प्रतिपादन होता ।
इसीलिये सब कहना पड़ता । न तो अपथ क्यों जावें ? ॥ ३९ ॥

तथा स्व-मतका निर्धार । करनेमें है धनुर्धर ।
दूसरे मत-मतांतर । जानना अच्छा ॥ २४० ॥

तथा सुन तू यह पार्थ । निरूपणकी यह-रीत ।
अब कहता मुख्य बात । इसके बाद ॥ ४१ ॥

वास्तविक अहिंसा, श्रीज्ञानदेवका स्वमत —

अब कहूंगा मैं स्वमत । अहिंसाका रूप-लक्षित ।
उसको जानकर चित्त । प्रकटेगा ज्ञान ॥ ४२ ॥

जिसमें है अहिंसाका अधिष्ठान । प्रकट करेगा उसका वर्तन ।
जैसे कसौटी करे मूल्य-मापन । स्वर्णका वैसे ॥ ४३ ॥

होता ज्ञान औ' मनका मिलन । होता अहिंसाका बिंब-दर्शन ।
उसका रूप सुन तू अर्जुन । कहता हू मैं ॥ ४४ ॥

ज्ञानी अहिंसकका चलना—

जैसे तरंग न लांघता । पैरसे लहर न तोड़ता ।
पानकी ध्वनि भी न तोड़ता । अपने पैरसे ॥ ४५ ॥

वेगसे किंतु बचाकर । भक्षपे दृष्टि स्थिर-कर ।
चलता पैर उठाकर । बक-पक्षी जैसे ॥ ४६ ॥

अथवा कमल पर भ्रमर । रखता है कोमलतासे पैर ।
कहीं टूटेगा उसका केसर । इसके भयसे ॥ ४७ ॥

जैसे परमाणुमें छिपे हैं । छोटे जीव वह जानता है ।
दयासे ढकके चलता है । अपने पाव ॥ ४८ ॥